उपसंहार

समग्र सजीव-सृष्टि में मनुष्य एक विशिष्ट, सर्वाधिक विकसित जीव है। अन्य सजीवों की तुलना में वह सदैव अधिक विकासशील रहा। आदि मानव से लेकर वर्तमान आधुनिक मानवी तक का सफर सघन विकासयात्रा है, जो अभी भी जारी ही है। मनुष्य शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, भावनागत, सभी परिप्रेक्ष्य से सतत अपनी क्षमताओं को परिष्कृत करता रहा।

अन्य सजीव बिना किसी परिवर्तन किये प्रकृतिदत्त, प्रकृति द्वारा निर्देशित जीवन व्यतीत करते हैं। उनसे विपरीत, मनुष्य ने अपनी जीवन-शैली में सतत परिवर्तन किया, उसमें अनेक पहलुओं का समावेश किया और अनेक क्षेत्रों का उद्भव एवं विकास किया। ये क्षेत्र उसकी जीवन-शैली का, उसकी संस्कृति का, उसके अस्तित्त्व का अंग बनते गये। मानव-जीवन से संलग्न इन क्षेत्रों में विज्ञान, गणित, भाषा, सामाजिक विज्ञान, तबीबीशास्त्र, इतिहास, भूगोल, राज्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, इत्यादि के साथ कला भी समाविष्ट है।

अन्य क्षेत्रों की तरह कला भी उत्क्रांति के शुरुआत के स्तर से, अति प्राचीन काल से मनुष्य के जीवन, संस्कृति एवं अस्तित्त्व से घनिष्ठ रूप से संलग्न है। कला संस्कृति से और संस्कृति कला से प्रभावित होती रहेगी। अतः कला एवं संस्कृति का संबंध परस्परावलंबी है।

प्राचीन काल से विभिन्न संस्कृतिओं में कला का कई प्रकारों में वर्गीकरण करने का प्रयास होता रहा। वर्तमान समय में पाश्चात्य तथा पूर्वीय दोनों संस्कृतिओं में मुख्यतः कला के दो वर्ग माने गए हैं - उपयोगी कला एवं ललित कला। व्यावहारिक जीवन-निर्वाह की स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली कलाओं को 'उपयोगी कला' श्रेणी में रखा गया है। उन्हें 'ललितेतर कला', 'सामान्य कला', 'यांत्रिक कला' या 'कारु कला' भी कहा जाता है। इन कलाओं का प्रथम प्रयोजन उपयोगिता है,

सौन्दर्य का प्रयोजन गौण है। भावाभिव्यक्ति के जरिये सौन्दर्य-निर्मिति एवं आनंद-प्राप्ति करवाने वाली कलाओं को ‘ललित कला’ श्रेणी में रखा गया है। उन्हें ‘सौन्दर्यप्रधान कला’, ‘चारु कला’ या व्यवहार में सिर्फ ‘कला’ भी कहा जाता है। इन कलाओं का प्रथम प्रयोजन भावाभिव्यक्ति तथा सौन्दर्य-निर्मिति है, उपयोगिता का प्रयोजन गौण है। ऐसा कहना अनुचित नहीं है, कि कारु कलाओं की उपयोगिता ही उनका सौन्दर्य है और चारु कलाओं का सौन्दर्य ही उनकी उपयोगिता है।

चारु कलाओं के अंतर्गत स्थापत्य, शिल्प, चित्र, साहित्य एवं संगीत समाविष्ट हैं। माध्यमों के वैशिष्ट्य, भिन्नता के कारण प्रत्येक कला अपने विशिष्ट, निजी ढंग से सौन्दर्य-निर्माण करती है।

चारु अर्थात ललित कला के लक्ष्य के रूप में सौन्दर्य-निर्मिति को पूर्वीय एवं पाश्चात्य दोनों संस्कृति के कलाविदों ने माना है। दोनों संस्कृति में ललित कला को प्रकृति से काफी करीब माना गया है। प्रकृति को कला की प्रेरणा तथा कला को प्रकृति का अनुकरण माना गया है। दोनों संस्कृति में उसे भावना, संवेदना की अभिव्यक्ति का माध्यम माना गया है; दोनों में वास्तविकता के साथ कल्पना तत्त्व की उपस्थिति मान्य है। दोनों मत ने कला को सौन्दर्य उजागर करके आनंदानुभूति, मनोरंजन प्रद मानने के साथ ईश्वर आराधना में सहायक भी माना गया है।

दोनों मतों में मुख्य तफ़ावत यह है, कि कला के प्रति पूर्वीय, विशेषतः भारतीय दृष्टिकोण आत्मवादी रहा है। इसमें कला को धर्म और अध्यात्म के साथ घनिष्ठ रूप से जोड़ दिया गया है। इस संस्कृति में कला को आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, आत्म-खोज, आत्मा से परमात्मा का अनुसंधान माना गया है।

ललित कलाएँ जिस सूक्ष्म, सुप्त संवेदन, भाव तत्त्व की प्रस्तुति, अभिव्यक्ति करती हैं, उनके परिष्कृत, उजागर रूप को भारतीय मनीषिओं ने ‘रस’ कहा है। भरत मुनि का कथन है, कि विभिन्न भाव, संवेदन संयुक्त होकर रस तत्त्व का आविष्कार

करते हैं। रस भावमूलक कलात्मक स्थिति है, आस्वाद्य पदार्थ है। रस को अंतःकरण स्थित भावनाओं की पराकाष्ठा, उनका परमोत्कर्ष माना गया है। अनुभव, भावनाएँ व्यक्तिगत होते हैं, उन्हें कलाकार द्वारा कला में स्थान देने पर वे सार्वभौम, सार्वत्रिक बनते हैं; सभी के लिए भोग्य, रुचिकर बनते हैं। यह रुचिकर तत्त्व ही 'रस' है। ललित कलाओं में अभिव्यक्त होने वाली संवेदना, भावना रसानुभूति एवं रसाभिव्यक्ति है। रस कलाकार एवं रसिक के मध्य का सेतु है, जो दोनों को भावनागत कृतकृत्यता प्रदान करके आध्यात्मिक परमानंद की प्राप्ति करवाता है। भारतीय विद्वानों ने रसानुभूति को ब्रह्मानंद की अनुभूति मानी है। रस को सत्त्वगुण प्रधान माना गया है, जो रजस-तमस का शामक है।

इस प्रकार, संवेदना रस के रूप में कला के माध्यम से अभिवव्यक्त होती हैं, अतः रस और कला का संबंध घनिष्ठ है। रस ही वह अलौकिक तत्त्व है, जिसके कारण कलाएँ अलौकिकत्त्व को प्राप्त करती है।

प्रथम प्रकरण का निष्कर्ष यही है, कि क्योंकि ललित कलाएँ संवेदना, भावना से जुड़ी हुई है, उनमें इनके परिष्कृत स्वरूप रस का स्थान, उसकी उपस्थिति अनिवार्यतः निहित है। कला संबंधी पाश्चात्य विचार रजोगुण प्रधान, उसे प्रेयस्कर मानने वाले हैं, जबकि पूर्वीय विचार सत्त्वगुण प्रधान, उसे श्रेयस्कर मानने वाले हैं। पाश्चात्य संस्कृति में कला को अत्याधिक प्रमाण में मनो-मस्तिष्क से संबंधित माना गया, जबकि पूर्वीय, विशेषतः भारतीय संस्कृति में उसे एक स्तर आगे, आत्मा से संलग्न माना गया है। भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में कला एवं रस को समानरूप से उच्चस्तरीय बताया गया है। भारतीय विचार के अनुसार रस कला का अनिवार्य तत्त्व है।

रस का सर्वप्रथम उल्लेख उपनिषद में मिलता है। रस-सिद्धांत को व्यवस्थित रूप से प्रतिष्ठापित करने का कार्य भरतमुनि ने किया। उनके अनुसार, विभिन्न भावों

के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है। उनके पश्चात कई प्राचीन विद्वानों ने उनकी रस विचारणा पर अपना मंतव्य, विचार-विमर्श प्रस्तुत किया है। इनमें भट्ट लोलट, शंकुक, भट्ट नायक तथा अभिनव गुप्त मुख्य हैं। भट्ट लोलट के अनुसार रस की उत्पत्ति होती है, अतः उनका मत 'उत्पत्तिवाद' कहा गया है। शंकुक के अनुसार रस का अनुमान किया जाता है, अतः उनका मत 'अनुमितिवाद' कहा गया है। भट्ट नायक के अनुसार रस की मुक्ति होती है, अतः उनका मत 'मुक्तिवाद' कहा गया है। अभिनव गुप्त के अनुसार रस की अभिव्यक्ति होती है, अतः उनका मत 'अभिव्यंजनावाद' कहा गया है। इनके पश्चात भी आधुनिक काल पर्यंत विभिन्न विद्वानों द्वारा रस-सिद्धांत को लेकर चवर्णा होती रही है।

विभिन्न संवेदना, भावना के आधार पर भिन्न-भिन्न रस का आविष्कार माना गया है। इस संख्या को लेकर भी मत-मतांतर हैं। भिन्न-भिन्न विद्वानों द्वारा रस की संख्या ४, ८, ९, १० या ११ मानी गई। अत्याधिक प्रमाण में '९ रस सिद्धांत' को मान्यता मिली है, जो वर्तमान समय में भी प्रचलित है। इस सिद्धांत के अनुसार श्रुंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, अद्भुत, बीभत्स, भयानक तथा शांत को मुख्य रस के रूप में स्वीकार किया गया है। भक्ति तथा वात्सल्य को श्रुंगार की शाखा माना गया है। उल्लेखनीय है, कि समयांतर पर रस-संख्या में वृद्धि हुई, परंतु किसी भी प्रस्थापित रस को मुख्य रस के स्थान से कभी भी हटाया नहीं गया।

रस की निष्पत्ति जिन भावों के संयोग से है, उनमें भरतमुनि ने स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारीभाव को माना है। किसी भी रस-विशेष की निष्पत्ति के लिए जिम्मेवार मूलभूत भावनाजन्य मानसिक स्थिति उसका 'स्थायीभाव' है। स्थायीभाव के अस्तित्त्व के लिए कारणरूप परिस्थिति या पदार्थ 'विभाव' है। स्थायीभाव की प्रदीप्ति के साथ होने वाले (शारीरिक) परिवर्तन 'अनुभाव' हैं। स्थायीभाव के अनुरूप, उसके साथ आते-जाते रहने वाले क्षणिक भाव 'व्याभिचारीभाव' हैं। भाव तथा रस के मध्य बीज तथा अंकुर जैसा, जनक-जन्य संबंध

माना गया है। रस को जन्य तथा भाव को उसका जनक माना गया है। भरतमुनि तथा अन्य विद्वानों ने रस के देवता, वर्ण (रंग), इत्यादि भी बताये हैं।

विभिन्न ललित कलाओं में प्रायः सभी रस प्रस्तुत होते हैं, पर उनके प्रमाण में काफी वैविध्य, असमानता है। संगीत कला की तीनों विधाएँ गायन, वादन तथा नर्तन के लिए भी यही बात उपयुक्त है। तीनों विधाएँ अपने निजी माध्यम, लक्षण, क्षमता के अनुसार विभिन्न रस की निष्पत्ति में मुख्य या सहायक माध्यम बनती है।

प्रायः श्रृंगार, (भक्ति), (वात्सल्य), करुण, वीर, शांत, अद्भुत जैसे रस गायन, वादन तथा नर्तन तीनों विधाओं के माध्यम से प्रस्तुत होते हैं। तीनों विधाओं की कृतिओं में, प्रस्तुतिओं में इनका अत्याधिक प्रमाण में निरूपण मिलता है। हास्य, रौद्र, बीभत्स, भयानक जैसे रस प्रायः नर्तन विधा के माध्यम से अभिव्यक्त होते हैं, जिन्हें गायन तथा वादन विधा के माध्यम से सहाय मिल सकती है, वे स्वतंत्र रूप से इन रसों की निष्पत्ति नहीं करती। नर्तन विधा की कृतिओं में, प्रस्तुतिओं में भी इनका निरूपण कम प्रमाण में, कम समय के लिए, आंशिक रूप से मिलता है।

द्वितीय प्रकरण का निष्कर्ष यही है, कि प्राचीन विद्वानों द्वारा वर्णित रस मनुष्य-मन की मूलभूत भावना, संवेदना पर आधारित होने से सनातन, शाश्वत, सार्वत्रिक है। विद्वानों द्वारा कभी अपने से अगले समय में प्रस्थापित रस-विशेष को नकारा नहीं गया, अतः सिद्ध होता है, कि अति प्राचीन समय में जिस स्थायीभाव से रस-निर्मिति मानी गई, उसीसे वर्तमान समय में भी मानते ही हैं। संगीत कला की विधाओं में श्रृंगार, भक्ति, वात्सल्य, करुण, वीर, शांत, अद्भुत जैसे रस का निरूपण हास्य, रौद्र, बीभत्स, भयानक जैसे रस की तुलना में अधिक दृश्यमान होता है।

सौन्दर्यशास्त्रीओं ने ललित कलाओं के माध्यमों की भौतिक स्थूलता या सूक्ष्मता के आधार पर उनकी स्थूलता-सूक्ष्मता श्रेणी तय की है। माध्यमों के अनुसार स्थूल से सूक्ष्म की दिशा में कलाओं का क्रम स्थापत्य, शिल्प, चित्र, साहित्य तथा संगीत - यह

रखा गया है। संगीत कला के मूलभूत माध्यम के रूप में अति सूक्ष्म ऐसे स्वर तथा लय हैं। ये अति सूक्ष्म उपदान भावों की गहराई को जिस हद तक अभिव्यक्त कर सकते हैं, वह अन्य माध्यमों के लिए अत्यंत कठिन (या असंभव) है। अतः रस-निष्पत्ति के परप्रेक्ष्य में संगीत को सर्वश्रेष्ठ कला माना गया है। रस हरेक कला का प्राण तत्त्व है, उसकी निष्पत्ति ही हरेक कला का लक्ष्य है, पर संगीत के माध्यम से रसाभिव्यक्ति अत्याधिक असरकारक, प्रभावपूर्ण मानी गई है।

ध्वनि के स्वयंभू या प्रयत्नसाध्य उतार-चढ़ाव आम बात-चीत में भी भावाभिव्यक्ति के प्रभाव में वृद्धि करते हैं। संगीत ध्वनि के उतार चढ़ाव पर ही आधारित है। अतः विदीत है, कि उसमें भावाभिव्यक्ति अत्याधिक प्रभावी है, सहज है।

भारतीय संस्कृति में नाद को 'ब्रह्म' रूप मानकर अनन्य साधारण महत्त्व दिया गया है। उसे योग-साधना का प्रबल माध्यम माना गया है। इस दृष्टिकोण से संगीत अपने आप में आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट कला मानी गई है। विशेषतः भारतीय संगीत की प्रस्तुति हमेशा से ईश्वर के उपलक्ष्य में मानी गई है। आराधना के रूप में उनके चरणों में समर्पित की जाती है। भगवान तथा भक्त का, साध्य तथा साधक का संबंध नायक-नायिका संबंध में हर प्रकार की भावनाएँ शामिल होने से नव रस की अनुभूति तो होती ही है, परंतु अभिव्यक्ति ईश्वरीय तत्त्व के उपलक्ष्य में होने से आध्यात्मिक, समर्पित, उपासना भाव कायम रहता है। भारतीय शास्त्रीय संगीत आध्यात्मिकता तथा स-रसता का सुन्दर मेल है।

संगीत का प्रभाव अत्याधिक विस्तृत है। उसके प्रभाव की शीघ्रता तथा तीव्रता उसकी विशेषता है। उसका प्रभाव आयु, वर्ग, शिक्षा, संस्कृति, इत्यादि से परे है। यहाँ तक की पशु-पक्षी तथा वनस्पति तक उससे प्रभावित होते हैं। संगीत कला का प्रभाव सीधा हृदय पर अविलंब पड़ता है, उसे समझने की आवश्यकता नहीं होती। उसका

रसास्वादन सर्वभोग्य है। संगीत भावों को व्यक्त करने का कार्य भी करता है। संगीत ऐसी कला है, जिसका भावनाओं से संबंध द्विमार्गी है। सिर्फ कला भावनाओं से प्रभावित नहीं होती, बल्कि भावनाएँ भी कला से प्रभावित होती हैं।

भावाभिव्यक्ति, रसाभिव्यक्ति हेतु संगीत कला के विभिन्न घटक-तत्त्व कार्यरत हैं। मूलतः संगीत नाद पर आधारित है। नाद उसका आधारभूत, नीवीं तत्त्व है। संगीत की विभिन्न विधाओं में भिन्न-भिन्न घटकों के साथ संयोजित होकर यह तत्त्व उजागर होता है और परिणाम स्वरूप सौन्दर्य-निष्पत्ति करता है। इन घटकों में श्रुति, स्वर, राग, लय, ताल सामान्य (common) हैं, जो तीनों विधाओं में उपयुक्त हैं। इनके अतिरिक्त गायन विधा में शब्द, वादन विधा में वाद्य-विशेष के ध्वनि-लक्षण तथा नर्तन विधा में अभिनय भी मूलभूत घटक के रूप में समाविष्ट हैं। भावाभिव्यक्ति से रस-निष्पत्ति करने में श्रेष्ठ मानी गई संगीत कला के विषय में प्राचीन विद्वानों ने अत्यंत सूक्ष्मता से चिंतन, मनन, मंथन एवं विश्लेषण किया है। उन्होंने संगीत-प्रस्तुति से होने वाली रस-निष्पत्ति का मूल सांगीतिक घटकों का रस से संबंध माना। उस पर विचार-विमर्श किया। फल स्वरूप संगीत-शास्त्र में इन घटकों का रस के साथ क्या संबंध है, उस विषय पर भी चर्चा हुई है। प्राचीन विद्वानों द्वारा स्थापित किये गए इन सिद्धांतों पर विचार-विमर्श जारी रहा, जिसके परिणाम स्वरूप मध्यकालीन तथा आधुनिक विद्वानों ने भी इस विषय में अपने-अपने मंतव्य दिये हैं।

प्राचीन तथा आधुनिक श्रुति-स्वर व्यवस्था, राग, ताल, वाद्य, अंग-भंगिमाएँ, इत्यादि में काफी तफ़ावत है। अतः प्राचीन समय में वर्णित सांगीतिक घटक तथा रस के संबंध को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सर्वथा अनुरूप नहीं माना जा सकता। परंतु, सांगीतिक घटकों में स्वभाव-गत कोई परिवर्तन नहीं हुआ है तथा शाश्वत, सनातन, ऐसे रस तत्त्व में भी कोई परिवर्तन नहीं है। अतः उनका परस्पर संलग्न होना निश्चित है।

तृतीय प्रकरण का निष्कर्ष यही है, कि रस-भाव कि सूक्ष्मता को प्रस्तुत करने के लिए सूक्ष्मतम माध्यमों से बनी संगीत कला श्रेष्ठ सिद्ध हुई है। संगीत कि रसाभिव्यक्ति उसके घटक माध्यमों पर निर्भर है। क्योंकि प्राचीन समय कि तुलना में आधुनिक समय में इन घटकों में कुछ बदलाव हैं, उन्हें प्राचीन समय में वर्णित सिद्धांतों के मुताबिक विभिन्न रस से संलग्न नहीं माना जा सकता, परंतु उनका रस से संबंध होना निश्चित है। घटकों का परस्पर उचित मेल होना रस-निर्मिति के लिए अनिवार्य है।

किसी भी कला के आकर्षक, रसात्मक स्वरूप के लिए मूलतः दो पक्ष जिम्मेवार है। एक है तकनिकी या कला पक्ष और दूसरा भाव पक्ष। ये दोनों ही रसात्मकता के पोषक हैं। संगीत कला के लिए भी यही बात उपयुक्त है। कला पक्ष संगीत के बाह्य भाग को, जबकि भाव पक्ष संगीत के आंतरिक घटक को शोभा प्रदान करता है। भाव कला के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। कला शरीर है, तो भाव आत्मा है। कला यानि तकनिकी पक्ष शिक्षा, चिंतन एवं रियाज़ से आकार लेता है, जबकि भाव पक्ष कलाकार के विभिन्न अनुभव एवं अनुभूति से निर्मित होता है।

यह सिद्ध हुआ है, कि संगीत से रसाभिव्यक्ति करने में ध्वनि-वैचित्र्य विशेष सहायक होता है। रस-निष्पत्ति में ध्वनि-वैचित्र्य विशेष सहायक होता है। रस-निष्पत्ति में ध्वनि-वैचित्र्य का विशेष योगदान है। संगीत के कला पक्ष के ऐसे कई तत्त्व हैं, जो भाव पक्ष की सटीक अभिव्यक्ति के लिए अत्यंत उपयोगी हैं। 'राग-विबोध' जैसे ग्रंथ में लिखा गया है, कि अलंकार ही स्वर-समुदाय में सौन्दर्य एवं प्राण का संचार करता है।

प्रस्तुति के दौरान कुछ सूक्ष्म अलंकारी तत्त्वों के प्रयोग से सांगीतिक घटकों का संगीत कला में रूपांतरण होता है। इन तत्त्वों में मींड़, सूत, आंदोलन, गमक, कण, खटका, क्रिन्तन, जमजमा, मुरकी, स्वरित, स्थाय, सप्तक, संवाद, काकु, वर्ण,

अलंकार, बंदिश, आलाप, तान, विश्रान्ति, शैली, तांडव-लास्य, नायक-नायिका भेद, इत्यादि समाविष्ट हैं। विभिन्न घटकों से संयोजित होकर ये तत्त्व भिन्न-भिन्न रस के पोषक बनते हैं। कलाकार के लिए रसाभिव्यक्ति के ये माध्यम रसिक के लिए रसानुभूति के कारण सिद्ध होते हैं। इन तत्त्वों का सैद्धांतिक विश्लेषण शास्त्रीय संगीत में ही किया गया है, परंतु उनका क्रियात्मक उपयोग लोक संगीत, सुगम संगीत, इत्यादि में भी हुआ है।

इन तत्त्वों एवं घटकों से बना कला का बाह्य शरीर भी मूलतः आकर्षक ही है, जो मनोरंजन करता है। परंतु भाव की उपस्थिति उस बाह्य सौन्दर्य में प्राण का संचार करके उसे अत्याधिक प्रभावपूर्ण बनाती है। भाव के बिना कला मस्तिष्क को आकर्षित कर सकती है; पर भावपूर्ण, रसपूर्ण कला मस्तिष्क के उपरांत मन, हृदय और आत्मा तक को आकर्षित करती है, सुकून देती है। कला में रस तत्त्व, सौन्दर्य तत्त्व इतना घुल-मिल गया है, कि उसके अलग अस्तित्त्व, उपस्थिति को लेकर रसिक और कभी कभी कलाकार भी जागरूक, सचेत नहीं होते। कला और रस का सह-अस्तित्त्व मान लिया गया है।

ये जागरूकता हटने पर कभी कभी छोटे-छोटे कारण कला में रस का, भाव का प्रमाण कम कर देते हैं। इन कारणों में तकनिकों का अत्याधिक, अनुचित प्रयोग; साहित्य पक्ष का अनुचित प्रयोग; अस्पष्ट उच्चारण; अत्याधिक लय; अत्याधिक लयकारी-प्रदर्शन; तानों का अनुचित, अत्याधिक प्रयोग; अप्रचलित, कठिन राग-ताल का चयन; घटकों का अनुचित मेल; मुद्रा-दोष; रस-शिक्षा का अभाव; उपज के स्थान पर पूर्व-निर्धारण (fixation); राग-समय का उल्लंघन; संगतकार से सायुज्य का अभाव; कलाकार तथा आयोजक के मध्य तनाव, राजनीति; समर्पण का अभाव; कार्यक्रम के आयोजन, व्यवस्थापन में कमी; समय का अभाव; कलाकार की शारीरिक, मानसिक या भावनागत अस्वस्थता; कलाकार द्वारा रसिक की अपेक्षा एवं

स्तर समझ न पाना; रसिक का अनुकूल न होना; कलाकार का रियाज़ कम होना; इत्यादि समाविष्ट हैं।

इन कारणों की वजह से रस-हानि होने पर कई बार रसिक का शास्त्रीय संगीत से मन उठ जाता है, उसे संगीत का यह प्रकार अत्याधिक जटिल, कठिन या अरुचिकर लगता है।

चतुर्थ प्रकरण का निष्कर्ष यही है, कि संगीत के माध्यम से रसाभिव्यक्ति करने के लिए कई सूक्ष्म अलंकारिक तत्त्व कार्यरत हैं। उनका मूलभूत सांगीतिक घटकों से संयोजन संगीत को सौन्दर्य प्रदान करता है। साथ ही, कलाकार के मन में भाव तत्त्व की उपस्थिति भी अनिवार्य है। उसके अभाव में कई सूक्ष्म बातों से ध्यान भटक जाता है और तकनिकी पक्ष का अनुचित उपयोग हो जाता है। जो अंत में रस-हानि का कारण बनता है।

संगीत की लोकप्रियता तथा सभ्य समाज द्वारा स्वीकार में समय-समय पर चढ़ाव-उतार आने के बाद वर्तमान समय में वह पूर्ण रूप से आदर-सम्मान व चाहना पा चूका है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का भी अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय शास्त्रीय संगीत का चाहक वर्ग बहुत बड़ा है, उसमें कोई संदेह नहीं। परंतु, साथ-साथ इस बात को भी अनदेखा नहीं किया जा सकता, कि अन्य संगीत प्रकारों की तुलना में शुद्ध शास्त्रीय संगीत में रुचि रखने वाले लोगों की संख्या कम है। शास्त्रीय संगीत लोक संगीत तथा सुगम संगीत की अपेक्षा जटिल है। लोक संगीत तथा सुगम संगीत शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा काफी सरल होने के कारण लोकभोग्य है। परंतु शास्त्रीय संगीत नीरस नहीं है। उसकी रसमयता बनाये रखने के लिए रस-हानि के कारणों का हल निकालके प्रस्तुति करना आवश्यक है।

कलाकार की सज्जता; उसके लिए गुरु से सीना-ब-सीना तालीम; कलाकार की स्वभावगत ऋजुता, भावुकता; स्वतंत्र कल्पना, विचार शक्ति; कलाकार एवं रसिक

की तन्मयता; रसिक की संवेदनशीलता एवं कल्पनाशक्ति; प्रचलित या लोकभोग्य कृति का चयन; कलाकार-रसिक के मध्य कल्पना, क्षमता, अपेक्षा आदि का मेल; समय - प्रहर तथा ऋतु आधारित रागों, कृतिओं का चयन; रस-शास्त्र का अभ्यास, रस-शत्रुता-मित्रता के प्रति लक्ष्य; तकनिक तथा भाव के मध्य सायुज्य, विवेक; कृति के घटकों (शब्द-राग-लय इत्यादि) का सुयोग्य मेल; स्पष्ट एवं सुमधुर उच्चारण; लय-लयकारी-तान इत्यादि का विवेकपूर्ण उपयोग; समयावधि में विभिन्न अंगों का विवेकपूर्ण समावेशन; मुद्रा-दोष रहित प्रस्तुति; सुयोग्य संगत; कला तथा कलाकारलक्षी आयोजन; कलाकार की शारीरिक, मानसिक तथा भावनागत स्वस्थता; इत्यादि रसमयता के परिप्रेक्ष्य से कला प्रस्तुति को उच्च स्तरीय बनाने के लिए आवश्यक पहलुओं में समाविष्ट हैं।

'संगीतसमयसार' जैसे ग्रंथ में गायक के प्रकारों के विषय में लिखा गया है, कि जो रस उजागर करता है, वह 'रसिक' है; जो भावपूर्ण प्रस्तुति करता है, वह 'भावक' है; जो श्रोता-दर्शक का रंजन कर सके, वह 'रंजक' है। रंजक को निम्न, भावक को मध्यम तथा रसिक को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

रस कला का हार्द है। रसमय कला ही कला का परिपूर्ण स्तर माना जा सकता है। वर्तमान भारतीय शास्त्रीय संगीत के लिए प्रस्तुत परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में कुछ पहलू विचारणीय हैं, आवकार्य हैं।

सांगीतिक घटकों में आये परिवर्तनों के कारण उनका प्राचीन शास्त्रों में दर्शाया गया रस तत्त्व से संबंध वर्तमान समय में पूर्णतः प्रस्तुत नहीं है। अतः उस पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुनः विचारणा की जाए, वह उपयोगी सिद्ध होगा। लोक संगीत तथा सुगम संगीत जैसे भाव-प्रधान संगीत प्रकारों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उनके भावपरक तत्त्वों को शास्त्रीय संगीत के दायरे में रहकर अपनाया सकता है। घटकों के उत्कृष्ट मेल, सायुज्ययुक्त नवीन कृतिओं का निर्माण; भावप्रधान शब्दों पर अधिक

प्राधान्य, स्वर-बेहलाव; संस्थाकीय शिक्षा में उच्च घरानेदार शिक्षा-पद्धति के अनुकरणीय गुणों का समावेशन; इत्यादि सराहनीय है। विद्यार्थी की विशिष्ट क्षमता को परखना और प्रोत्साहित करना; राग-माला चित्रावली तथा राग-ध्यान के श्लोक और दोहों का राग-शिक्षा के समय उपयोग करना; शिक्षा में विश्लेषणात्मक श्रवण या दर्शन को स्थान देना; विद्यार्थी की मौलिकता को महत्त्व देना; इत्यादि उपयोगी एवं आवश्यक कदम हैं। प्राथमिक शिक्षा में संगीत को समाविष्ट करना भी सराहनीय हो सकता है, जो अच्छा रसिक वर्ग तथा सामान्य स्तरीय शिक्षित विद्यार्थी वर्ग का निर्माण करने में महत्त्वपूर्ण योगदान कर सकता है।

अंतिम प्रकरण का निष्कर्ष यही है, कि शास्त्रीय होने के बावजूद भी यह रुचिकर संगीत है, उसकी रुचिकरता कायम बनाये रखने के लिए जाग्रत प्रयास आवश्यक हैं। इनमें रस-हानि के हल तथा कुछ नवीन रचनात्मक विचार समाविष्ट हैं।

प्रस्तुत शोधकार्य में संगीत कला की तीनों विधाएँ - गायन, वादन तथा नर्तन के परिप्रेक्ष्य में रस का जो सैद्धांतिक आलेखन हुआ है, रस की जो अनुभूति होती है तथा रस की जिस प्रकार से अभिव्यक्ति होती है - इनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत अपने आप में एक अति समृद्ध धरोहर है। लौकिक या अलौकिक - किसी भी दृष्टिकोण से उसके लाभ अनगिनत है। उसकी लोकप्रियता, लोकभोग्यता कायम रहे, वह सराहनीय है, समाज के लिए इच्छनीय है।

सतत परिवर्तन प्रकृति का नियम है, जिसमें से मानव संस्कृति तथा उसिक एक अंग - भारतीय शास्त्रीय संगीत भी बहार नहीं है। कला के दो पक्ष होते हैं - क्रियात्मक पक्ष एवं शास्त्र पक्ष। क्रियात्मक के आधार पर शास्त्र बनता है। क्रियात्मक पक्ष में परिवर्तन कालक्रम से शास्त्र में भी परिवर्तन लाता है। प्राचीन विरासत को

संभालकर उसे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नावीन्यपूर्ण स्वरूप से पुनः प्रतिष्ठापित करना इसी परिवर्तन-सिलसिले का अंश रहा, हिस्सा रहा।

भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की अमूल्य देन ऐसे रस-शास्त्र (सिद्धांत) तथा वर्तमान भारतीय शास्त्रीय संगीत के सायुज्य के संदर्भ में भी इसी प्रकार का प्रतिष्ठापन एक आवश्यक (सराहनीय) कदम सिद्ध होगा, ऐसा कहना अनुचित नहीं है। यह शोधकार्य इसी सिलसिले में किया गया एक नम्र प्रयास है।